वार्षिक उद्बोधन माला

स्वामी रामतीर्थ

स्वामी राम के ८२वें जन्मोत्सव पर प्रकाशित

रामतीर्थ आश्रम, सारनाथ, काशी

भेंट—पाँच आने

स्वामी रामतीर्थ

अन्तिम उद्गार—

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, गंगा, भारत!

ओ मौत! बेशक उड़ा दे इस एक जिस्म (शरीर) को, मेरे और अजसाम (शरीर) ही मुझे कुछ कम नहीं। सिर्फ चाँद की किरणें, चाँदी की तारें पहनकर चैन से काट सकता हूँ। पहाड़ी नदी-नालों के भेष में गीत गाता फिरूँगा, बहरे मव्वाज (आनन्द के महासागर) के लिबास में लहराता फिरूँगा। मैं ही बादे-खुश-खराम (मनोहर वायु) और नसीमे मस्ताना गाम (प्रातःकालीन समीर की मधुरता) हूँ। मेरी यह सूरते-सैलानी (मनमौजी मूर्ति) हर वक्त रंवानी (हलचल) में रहती है। इस रूप में पहाड़ों से उतरा, मुरझाते पौधों को ताजा किया, गुलों (फूलों) को हँसाया, बुलबुल को रुलाया, दरवाजों को खटखटाया, सोतों को जगाया, किसी का आँसू पोंछा, किसी का घूँघट उड़ाया। इसको छेड़, उसको छेड़, तुझको छेड़! वह गया! वह गया!! वह गया!!! न कुछ साथ रक्खा, न किसी के हाथ आया।

उपर्युक्त संदर्भ स्वामी राम ने दीपावली संवत् १९६० को गंगाजी में महासमाधि लेने से १ घण्टे पूर्व अपने लेख 'तमस्सुके-उरूज' के अन्त में लिखा था। इसकी पाण्डुलिपि रामतीर्थ आश्रम, सारनाथ में आज भी सुरक्षित है। महासमाधि के पूर्व उन्होंने कैसे मृत्यु का आह्वान किया—यह बड़ा विचित्र संयोग है।

एकाग्रता में विघ्न

[मन को देव के 'पास बिठाना' उपासना है, अथवा उपासना उस अवस्था का नाम है, जहाँ रोम-रोम में राम रच जाय, मन अमृत में भीग जाय, दिल आनन्द में डूब जाय। इसके तीन दर्जे हैं, जैसे (१) पत्थर की शिला का गंगा में शीतल हो जाना, (२) कपड़े की गुड़िया का अन्दर-बाहर जल में निचुड़ने लग जाना, और (३) मिसरी की डली का गंगा रूप हो जाना। कभी-कभी भजन, ध्यान, आराधना, अनुसंधान आदि भी इसी को कहते हैं; सीधी-सादी बोलचाल में ईश्वर को याद (स्मरण) करना उपासना है।........ इस प्रकार उपासना की व्याख्या करते हुए स्वामी राम उसके विघ्नों का वर्णन कर रहे हैं।]

विघ्न १; मिथ्या कारण-सत्ता में विश्वास।

अपने तईं पूरा-पूरा और सारे का सारा परमात्मा के हवाले कर देने का मज़ा तव तक तो आ नहीं सकता, जव तक संसार के पदार्थों में कारणत्व सत्ता भान होती रहेगी, अथवा जव तक ईश्वर हर वात का एक मात्र कारण प्रतीत न होने लगेगा। अरवी, फारसी, उर्दू में कारण को "सवव" कहते हैं, और अरवी में सवव का पहला अर्थ है, "डोर रस्सा"। रूम देश का स्वामी ज्वाल (जो उन लोगों की भाषा में 'मौलाना जलाल' के नाम से प्रसिद्ध है) लिखता है—"यह कारणकार्यभाव रूपी रस्सा जो इस जगत् कूप में सव घटों के गले में बँधा पाते हो, यह क्यों फिरता है? इस वे प्राण रज्जु ने तो क्या फिरना था, कूप के सिर पर देव चर्खी घुमा रहा है, पर हमें रस्सा ही सव घटियन्त्र को चलाता भान होता है, 'कारणं कारणानां' तो देव ही है।"

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न वाह्यांछब्दांछक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न

वाह्यांछब्दांछक्नुयाद् ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः॥ स यथा वीणायै वाद्यमानायै वाह्यांछब्दांछक्नुयाद् ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः॥

(वृह० उप० ४, ५, ८—१०)

(जैसे नगारा वा धौंसा जब पीटा जाता है तो उसके वाह्य शब्द पकड़े नहीं जा सकते, पर नगारे को अथवा नगारे के पीटनेवाले को पकड़ लेने से नगारे के शब्द पकड़े जाते हैं। जैसे शंख जब पूरा जाता है तो उसके वाहर के शब्द नहीं पकड़े जा सकते। पर शंख वा शंख वजाने वाले को पकड़ने से शंख के शब्द पकड़े जाते हैं और जैसे वीणा जब वजाई जा रही है, तो वीणा के वाह्य शब्द पकड़े नहीं जा सकते, पर वीणा अथवा वीणा वजाने वाले को पकड़ने से वीणा के शब्द पकड़े जाते हैं।)

जैसे ढोल, मृदंग, शङ्ख, वीणा, हारमोनियम आदि के आवाज सब अपने आप ही पकड़े जाते हैं, जब हम इन वाजों वा यन्त्रों को अथवा इनके वजाने वालों को कावू में करते हैं। इसी प्रकार संसार की 'कार्यकारणशक्ति' एकदम हमारे अधीन हो जायगी, जब हम एक परमात्मदेव को पक्की तरह पकड़ लेंगे। किसी वड़े आदमी की सिफारिश, विद्या, वस्त्र, धन-माल, मकान आदि को जो अपनी आशापूर्ति में कारण और हेतु ठान वैठते हो, और आत्मदृष्टि का आश्रय नहीं लेते, धोखे में गिरते हो, दुःख पाओगे।

कहते हैं, कृष्ण जब गोपिकाओं का दूध, माखन आदि खाता था, तो कुछ दधि आदि घर में वँधे हुए वछड़ों की थोथनी पर लगा देता था। घरवाले लोग अपने ही वछड़ों को चोर समझ कर उन गरीवों को वहुत मारते-पीटते और अपना ही नुकसान करते थे। प्यारे! कारण तो हर वात का एक मात्र भगवान् है, वाकी कारण तो केवल चिटटी थोथनी वाले वेचारे वछड़े हैं। कँगले दीवालियों के नाम हजारीलाल, लखपतराय, करोड़ीमल आदि रक्खे हुए हैं। क्यों चक्कर में मारे-मारे फिरते हो? ऊपर के सांसारिक मिथ्या लिंग, हेतु, आदि

पर मत भूलो, यह असली कारण नहीं। जब तक लड़की विवाही नहीं जाती, तो गुड़ियों से जी बहलाती है। कारणों का कारण रूप परब्रह्म जब मिल सकता है, जो मिथ्या कारणों से जी बहलावा क्यों करना ?

भानमती का तमाशा हुआ, पुतलियाँ नाचती हैं। "एक ने दूसरी को बुलाया, इसलिये वह आ गई। एक ने दूसरी को पीटा, इसलिये वह मर गई"—इस प्रकार के कार्य्यकारण भाव पर प्रायः मनुष्य भूल रहे हैं, असली कारण तो एक पुतलीगर (अन्तर्यामी सूत्रधारी) है।

गीत या बाँसुरी सुनने लगे, एक स्वर के बाद दूसरा स्वर आया, एक शब्द दूसरे शब्द को अवश्य लाया, इन शब्दों और स्वरों का आपस में आवश्यक लगाव, इस प्रकार के कार्यकारण भाव पर लोग भूल बैठते हैं, असली कारण तो गाने वाला (वंशीधर) है।

एक ऊंचा मकान था, "शिखर की मंजिल का आश्रय क्या है, उससे निचली मंज़िल, और उसका आश्रय उससे नीचे की मंज़िल, फ़र्श की मंज़िल बाक़ी सबका आश्रय और कारण है।" इस प्रकार के कार्यकारण सम्बन्ध पर लोग भूल बैठते हैं। असली संजीवित कारण तो इन सब मंज़िलों का मकान बनाने वाला (कर्त्ता, हर्त्ता) है।

संसार के कारणों को आशा की आँख से तकना तो खारी समुद्र में डूबते को तिनके का सहारा है। जब गोकुलचन्द्र (कृष्ण) के वहाँ सुदर्शन तो जुड़ा नहीं, रथ का चक्र उठाकर ही अपनी प्रतिज्ञा तोड़ ली, तो (भीष्म) बुड्ढे को भी यह लड़कपन देख बड़ी हँसी आई। अब फिर वही काम न होने पाये। यह चर्मचक्षु से नज़र आने वाले कारण, आश्रय, सहारे, इनको तकना तो अनुचित रथ के चक्र को उठाना है। इनसे क्या बनेगा ? तुम अपने असली स्वरूप को तो याद करो, आँखें खोलो, किस चक्कर में पड़े हो ? किस झगड़े में अड़े हो ? किस कलकल में फँसे हो ? तुम तो वही हो, वही। जरा देखो अपने असली सुदर्शन की तरफ़, तुम्हारे भय से सूर्य काँपता है, तुम्हारे भय

से पवन चलती है, तुम्हारे खौफ से समुद्र उछलता है, तुम्हारे चाबुक से मौत मारी-मारी फिरती है।

भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्च इति।

(तैत्ति० उप० २, ८, १)

(इस ब्रह्म के भय से वायु चलती है; इसके भय से सूर्य उदय होता है, और इसी के भय से अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु भागता फिरता है।)

यह उर से मेहर※आ चमका, अहाहाहा, अहाहाहा।
उधर मह§ बीम* से लपका, अहाहाहा, अहाहाहा॥
हवा अठखेलियाँ करती है, मेरे इक इशारे से।
है कोड़ा मौत पर मेरा, अहाहाहा, अहाहाहा॥

अरे प्यारे! विषयों के वश में रहना तो पराधीनता में मरना है, इस बेबसी का जीना तो शरीर को कबर बना कर मुर्दे की तरह सड़ाना है। "निर्ममो निरहंकारः" हुए आत्म-ज्योति शरीर में से इस प्रकार फैलती है, जैसे फानूस में से प्रकाश। जिस कार्य में ऊपर के लक्षण देख कर अनुमान के आश्रय आशा की पाश में दिल फँसा दिया जाय, वह कार्य कभी नहीं होगा। जिनको अनुमान और लक्षण मान रक्खा है, मनुष्य को मिथ्या संसार में इस प्रकार फँसाते हैं, जैसे मछली को माँस की बोटी जाल में (कुंडी में)। जब ऊपरी कारणों को दिल में न जमा कर, स्वार्थांश को त्याग कर, कोई भी कार्य इस भावना से किया जाय, "हे राम! यह तुम्हारा ही काम है, तुम्हारा है इसलिये मैं अपना समझता हूँ, जो तुम्हारी मर्जी सो मेरी मर्जी, कार्य के होने न होने में मुझे हानि नहीं, लाभ नहीं, मेरा आनन्द तो केवल तुम्हारे साथ अभेद रहने में है, काम को यदि सँवार दो तो वाह वाह! बिगाड़ दो तो वाह वाह!" जब सच्चे दिल से यह भावना और यह दृष्टि हो,

※सूर्य। §चन्द्र। *डर।

तो क्या दुनिया और दुनिया के कानूनों की शामत आई है कि चाकरों की तरह तत्काल सब काम न करते जायँ ? भला, राम के काम में भी अटकाव हो सकता है ? भगवद्गीता के मध्य में जो श्लोक गीता को आधा इधर और आधा उधर गुरुत्वकेन्द्र (centre of gravity) की तरह तोल देता है, यह है:—

अनन्याश्चिन्तयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ (गीता ९, २२)

(अनन्य चित्त से चिन्तते हुए जो लोग मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य युक्त पुरुषों का योगक्षेम मैं अपने ऊपर लेता हूँ ।)

भगवान् का यह तमस्सुक (इकरारनामा) तब भी झूठ नहीं होगा जब अग्नि की ज्वाला नीचे को वहने लगे, और सूर्य पश्चिम से उदय होना आरम्भ कर दे और पूर्व में अस्त ।

यार ! मनुष्य जन्म पाकर भी हैरान और शोकातुर रहना बड़ी शर्म (लज्जा) की बात है । शोक चिन्ता में वे डूबें जिनके मा बाप मर जाते हैं, तुम्हारा राम तो सदा जीता है, क्या गम ? ज़रा तमाशा तो देखो, छोड़ दो शरीर की चिन्ता को, मत रक्खो किसी की आस, परे फेंको वासना-कामना, एक आत्म-दृष्टि को दृढ़ रक्खो, तुम्हारी खातिर सब के सब देवता लोहे के चने भी चाब लेंगे ।

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन् ।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ।

(शु० यजु० अ० ३१ म० २१)

(देवतागण प्रकाशस्वरूप ब्रह्मज्योति आदित्य को प्रकट करते हुए पहिले यह बोले कि हे आदित्य! जो ब्राह्मण आपको इस प्रकार प्रकट जानेगा देवता उसके वश में होंगे । अर्थात् ब्रह्म की यथायोग्य उपासना से हृदय में प्रकाश प्रकट होता है । ब्रह्मज्योति प्रकट होने से उसका ब्रह्म में अधिष्ठान हो जाता है, तब सब देवता उसके वशीभूत हो जाते हैं ।)

सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति ॥ (बृ० उप० ४, १, ३)
(सब पदार्थ उसकी ओर झुकते हैं ।)
सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥ (तैत्ति० उप० १, ५, ३)
(सारे देवता इसके लिये बलि लाते हैं ।)
न पश्योऽमृत्युं पश्यति, न रोगं, नोत दुःखतां ।
सर्वंह पश्यः पश्यति, सर्वमाप्नोति सर्वशः इति ॥
(छाँ० उप० ७, २६, २)

(जो यह देखता है कि "यह सब कुछ आत्मा ही है" वह न मृत्यु को देखता है, न रोग को और न ही दुःख को। ऐसा देखने वाला सब वस्तुओं को देखता है और सर्व प्रकार से सब वस्तुओं को प्राप्त होता है ।)

कोई सन्दिग्ध शब्दों में तो वेद ने कहा ही नहीं, "जब सर्वात्म दृष्टि हुई तब रोग, दुःख, और मौत पास नहीं फड़क सकते, आत्मा को जाने क्या नहीं जाना जाता, और हर प्रकार से हर पदार्थ मिल जाता है।"

विघ्न २; द्वेष दृष्टि ।

आनन्द धाम को चित्त चला तो वैरी विरोधी का खयाल डाकू रूप होकर चित्त को ले उड़ा। यूरप में एक दिन एक तत्वविज्ञान का लायक डाक्टर (आचार्य) अपने पास आने वालों की कुछ निन्दा-सी करने लगा। उससे पूछा कि "आप शिकायत करते हो ?" तो बोला, "नहीं, मैं उनके चित्त की अध्यात्म-दशा पर विचार करता हूँ" (I study the psychology of their minds)। दुनियाँ में हम लोग बराबर यही तो करते हैं। द्वेष-दृष्टि (और दुष्ट भाव) को कोई श्रेष्ठ सा नाम देकर आँखों पर परदा डाल दिया, और इस सर्पनी को बराबर छाती से लगाये फिरे। फिर जब कहा गया —"प्यारे डाक्टर ! सम्बन्ध वालों की अध्यात्म-दशा अकेली विचार के योग्य नहीं होती। अपनी आभ्यन्तर दशा भी उसके साथ-साथ विचारणीय है। साथी जो बिगड़े चित्तवाले मिले हैं, तो क्या

आजकल आपकी आभ्यन्तर अवस्था बिलकुल दूषण-रहित थी ?" डाक्टर आदमी था सच्चा, कुछ देर चुप रहकर विचार करके बोला, "स्वामिन् ! कहते तो बिलकुल सच हो"। वास्तव में जैसा मेरा चित्त होता है, वैसे चित्त और स्वभाव मेरे पास आकर्षित हो जाते हैं, औरों की अवस्था पर भला-बुरा चिन्तन करते रहने से कभी झगड़ा निपटता भी नहीं, उन लोगों को क्या पकड़ूँ, सब मनों का मन मैं हूँ, सब चित्तों का चित्त मैं हूँ। अन्दर से ऐसी एकता है कि अपने तईं शुभ करते ही सब शुभ ही शुभ पाता हूँ। समीप का इलाज (अपने तईं ब्रह्ममय कर देना) तो हम करते नहीं, दूर के बन्दोबस्त (औरों के सुधार) को दौड़ते हैं। न यह होता है, न वह। ईश्वर-दर्शन तो तब मिलेगा जब सांसारिक दृष्टि से प्रतीयमान वैरी विरोधी निन्दक लोगों को क्षमा करते हम इतनी देर भी न लगायें जितना श्री गंगा जी तिनकों को बहा ले जाने में लगाती हैं, या जितनी आलोक, किरणें अन्धकार के उड़ाने में लगाती हैं।

जब तक सर्व पदार्थों में *सम धी नहीं होती, तब तक समाधि कैसी ? विषम दृष्टि रहते, योग समाधि और ध्यान तो कहाँ, धारणा भी होनी असम्भव है। सम दृष्टि तब होगी जब लोगों में भलाई-बुराई की भावना उठ जाय और यह क्योंकर उठे ? जब लोगों में भेद-भावना उठ जाय, और पुरुषों को ब्रह्म से भिन्न मान कर जो अच्छा-बुरा कल्पना कर रक्खा है, न करें। समुद्र में जैसे तरंगें होती हैं, कोई छोटी, कोई बड़ी, कोई ऊँची, कोई नीची, कोई तिर्छी, कोई सीधी, उनकी सत्ता समुद्र से अलग नहीं मानी जाती, उनका जीवन भिन्न नहीं जाना जाता। इसी तरह अच्छे-बुरे आदमी, और अमीर-गरीब लोग तो तरंगें हैं, जिनमें एक ही ब्रह्म-समुद्र ढाढ़ें मार रहा है, अहाहाहा ! अच्छे-बुरे पुरुषों में जब हमारी जीव-दृष्टि उठ जाय और उनको ब्रह्म-

---

* समान बुद्धि अर्थात् सम दृष्टि।

रूपी समुद्र की लहरें जान लें, तो राग-द्वेष की अग्नि बुझ जायगी और छाती में ठंडक पड़ जायगी। जो लहर ऊँची चढ़ गयी है, वह अवश्य नीचे गिरनी है। इसी तरह जिस पुरुष में खोटापन समा गया है, उसे अवश्य दुःख पाना ही है। परंतु लहरों के ऊँच और नीच भाव को प्राप्त होते रहने पर भी समुद्र की पृष्ठ को क्षितिज धरातल (horizontal) ही माना है। इसी तरह बीज रूप लोगों के कर्म और कर्मफल को प्राप्त होते रहने पर भी ब्रह्मरूपी समुद्र की समता में फर्क नहीं पड़ता। लहरों का तमाशा भी क्या सुखदायी और आनन्दवर्द्धक होता है, पर हाँ, जो पुरुष उनसे भीग जाय या डूबने लगे, उसके लिए तो उपद्रव-रूप है। समुद्र-दृष्टि होने से सम धी और समाधि होगी।

उपासना की जान समर्पण और आत्मदान है, यदि यह नहीं तो उपासना निष्फल और प्राण रहित है। भाई! सच पूछो तो हर कोई लेने का यार है। जब तक तुम अपनी खुदी और अहङ्कार को परमेश्वर के हवाले न करोगे, तब तक तुम्हारे पास बैठना तो कैसा, तुमसे कोसों भागता फिरेगा, जैसे कृष्ण भगवान् कालयवन से। उस आँखों वाले प्रज्ज्वलित हृदय सूरदास ने बिलबिलाते बच्चे की तरह क्या जोर से सच कहा है।

विघ्न ३; स्वार्थ-कपट।

किन तेरो गोविन्द नाम धरयो।
लेन देन के तुम हितकारी मो ते कछु न सरयो॥
विप्र सुदामा कियो अजाची तंदुल भेंट धरयो॥
द्रुपद सुता की तुम पति राखी अम्बर दान करयो॥
गज के फन्द छुड़ाये आकर पुष्प जो हाथ परयो॥
सूर की बिरियाँ निठुर ह्वै बैठे कानन मूँद धरयो॥

यदि चाहो, परीक्षा तो करें, भजन (उपासना) से फल मिलता है कि नहीं तो प्यारे! याद रहे 'परीक्षा का भजन' असंगत और असंभव है; क्योंकि निष्कपट भजन तो होगा वह, जिसमें फल और

फल की इच्छावाले अपने आपको इस तरह परमेश्वर के भेंट कर दें; जैसे अग्नि में आहुति।

यह बिनती रघुवीर गुसाँई।
और आस विश्वास भरोसो हरो जीव जड़ताई॥
चाहौं न सुगति सुमति सम्पति कछु ऋद्धि सिद्धि विपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़े अनुदिन अधिकाई॥

यदि कोई कहे, आहुति हो जाने में क्या स्वाद रहा? तो ऐसा पूछनेवाले को स्वाद (आनन्द) का स्वरूप ही विदित नहीं। खुद (अहंभाव) के लीन हो जाने का ही नाम है स्वाद, आनन्द। बच्चे ने जब अपना नन्हा सा तन, और भोला-भाला मन, माता की गोद में डाल दिया, तो सारे जहान में उसके लिए कौन सा आराम शेष रहा और कौन सी चिन्ता बाकी रही? आँधी हो, वर्षा हो, भूकम्प हो, कुछ हो, उसका बाल-बाँका नहीं होगा, कैसा निर्भय है, क्या मीठी नींद सोता है और सलौनी जाग्रत उठता है।

विघ्न ४; प्रकृति नियम-भंग।

जब तक तुम्हारी शारीरिक क्रिया उपासना रूप न हो, तुम्हारा ऊपर से उपासना करना व्यर्थ दिखलावा है। निष्फल मन परचावा है। क्रिया—रूप उपासना का यह अर्थ है कि खाने, पीने, सोने, व्यायाम आदि में जो प्रकृति के नियम हैं उनको रंचकमात्र भी न तोड़ा जाय। विषय विकार, स्वादों में पड़ना आचरण से ईश्वर की आज्ञा भंग करना है, जिसका दण्ड रोग, व्यथा आदि अवश्य मिलना है और जब पीड़ा रूपी कारागार में बेंत पड़ रहे हों, उपासना कहाँ हो सकती है? जिस पुरुष का स्वभाव वैसी ही क्रिया आदि की तरफ ले जाय, जैसा ईश्वरीय नियम चाहते हैं; जिस पुरुष की इच्छा वही उठे जो मानों ईश्वर की इच्छा है; जिसकी आदत, प्रकृति (nature) की आदत हो, वह आचरण से 'शिवोऽहम्' गा रहा है, उसे दुःख कहाँ से लग सकता है!

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।" (मुण्ड० उ० २, ४)
(बल-हीन पुरुष को आत्मा प्राप्त नहीं होता ।)

मुण्डक उपनिषद् में यहाँ बल से तात्पर्य शरीर की आरोग्यता है, और अध्यात्मबल भी है, जिसको अध्यवसाय भी कहते हैं । गीता की* "प्रज्ञा प्रतिष्ठिता" भी बल रूप है ।

निद्रा क्यों आवश्यक है:—प्रति दिन काम-काज करते मनुष्य प्रायः संसार और शरीर आदि को सत्य मानने लग पड़ते हैं । परन्तु काम-काज के लिए शक्ति, बल तो आनन्दस्वरूप आत्मदेव से ही आना है, जिसकी सत्ता के आगे संसार की नामरूप सत्ता व भेद-भावना रह नहीं सकती । जगत् के धन्धों में फँसे हुए को नित्य प्रति निद्रा घेर कर पृथ्वी पर फेंक कर यह सन्था पढ़ाती है कि यह जगत् है नहीं, आत्मा ही आत्मा है, क्योंकि निद्रा में संसार मिथ्या हो जाता है और अज्ञाततः एक आत्मा ही आत्मा शेष रह जाता है ।

पोल निकाल्यो जगत् का, सुषुप्त्यवस्था माँहि ।
नाम रूप संसार की, जहाँ गन्ध भी नाँहि ॥

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतन-मलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत, एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते । [छाँदो० उप० ६, ८, २]

[जैसे (शिकारी के) तागे से दृढ़ बँधा हुआ पक्षी दिशा-दिशा में उड़कर और कहीं आश्रय न पाकर उसी जगह का आश्रय लेता है, जहाँ वह बँधा हुआ है; ठीक इसी प्रकार हे सौम्य ! यह मन दिशा-दिशा में घूमकर और कहीं आश्रय न पाकर प्राण का ही सहारा लेता है, क्योंकि यह मन हे सौम्य ! प्राण से बँधा हुआ है (अथवा प्राण के आश्रय है) ।]

---

*देखो गीता अ० २ श्लो० ५७, ५८, ६१, ६८ ।

सुषुप्ति द्वारा अज्ञातत: परम तत्व में लीन हुए इस कदर शक्ति-बल आ जाता है, तो उपासना-ध्यान आदि द्वारा ज्ञातत: परम तत्व में लीन हुए शक्ति, बल, आनन्द क्यों न बढ़ेंगे ? जब देखो कि चिन्ता, क्रोध, काम, (तमोगुण) घेरने लगे, तो चुपके उठकर जल के पास चले जाओ, आचमन करो, हाथ-मुँह धोओ, या स्नान ही कर लो, अवश्य शांति आ जायगी और हरिध्यान रूपी क्षीरसागर में डुबकी लगाओ, क्रोध के धुएँ और भाप को ज्ञान-अग्नि में बदल दो ।

चेतना का कमल

चेतना का कमल उस दिन उठा कर्दम चीर,
फाड़ता उपचेतना की चादरों सा नीर।
ऊर्ध्वमुख वह छोड़ जल का तल उठा ऊपर,
खिल उठा तैंतीस दल का पद्म गन्ध अधीर।

× × ×

साधना की सुरभि दिशिदिशि उड़ी पंख पसार,
प्रात का सन्देश पहुँचा सप्त सागर पार।
आँख मल कर नींद से ज्यों विश्व उठ बैठा,
सत्य की छवि अच्छी, सपनों का मिटा संसार।

× × ×

यह धरा मृन्मय विभा चिन्मय परस जागी,
मृत्तिका ने मृत्यु की जड़ता सहज त्यागी।
गीति के झर्झर झरे निर्झर अमर स्वर ले,
मधुप गूंजे सत्य छवि के सहज अनुरागी।

× × ×

ज्योतिवाही वह चिरन्तन साधना का फूल,
हे अमृत सन्तान, तुम जाना उसे मत भूल।

—शम्भूनाथ सिंह

'आनन्द का आकाश दीप'

श्रीस्वामी रामतीर्थजी को मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ। मेरे जीवन पर उनका सबसे अधिक ऋण है। भारत के दार्शनिक-धार्मिक जगत् में उन्होंने वेदान्त का आकाश-दीप नई ज्योति के साथ प्रज्ज्वलित किया। उनकी चेतना का वह उमँगता हुआ आनन्द उस आकाश-दीप में ऐसा आलोक भर गया जिसे सहस्रों लाखों व्यक्तियों ने देखा और जिसकी किरणों से उनके मन में भी उजाला पहुँचा। मैंने जीवन के प्रथम यौवन में पदार्पण किया ही था कि स्वामी राम के उस प्रभापूर्ण ज्ञान-दीपक की ज्योति मेरे मन तक पहुँची। उसमें विचित्र मादक आकर्षण था। शरीर और मन किसी विचित्र आनन्द की अनुभूति से भर गया। ऐसा ज्ञात हुआ कि ज्ञानियों की महती परम्परा में उत्पन्न यह महान् ज्ञानी मन के भीतर-बाहर भर गया है और मुझे भी अपने लोक का अतिथि बना रहा है।

भारत के दार्शनिक क्षेत्र में अगणित प्रतिभाएँ जन्मी हैं। सृष्टि का कोई सत्य जिसकी दृष्टि में समा जाता है और वह उसके अनुसार अपने कर्ममय जीवन को ढाल लेता है वही सच्चा दार्शनिक है। इस प्रकार के दर्शन सब सच्चे हैं और जीवन को प्रेरणा देते हैं। इनमें छोटा, बड़ा किसे कहा जाय; सहस्रांशु सूर्य की किरणें सभी तेज वाली हैं। फिर भी दर्शन का जो सच्चा फल है वह आनन्द की सम्प्राप्ति है। आनन्द ही अमृत है। वही अभय की स्थिति है। वही ब्रह्मदर्शन है। इस आनंद की जैसी उन्मुक्त धारा स्वामी राम के जीवन में, उनके अनुभव वाक्यों में मिलती है वह अभूतपूर्व है। 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं'—मैं इस महान् पुरुष को जानता हूँ, इस प्रकार का सिद्धात्मक अनुभव स्वामी राम के स्वरों में प्रतीत होता है। वह श्रोता के मन का संस्पर्श करता है। उसे भी उस उन्मुक्त निर्झर की शीतल वायु आनन्दित बनाती है।

मानवीय आत्मा इतनी उज्ज्वल है कि तुम उसका स्पर्श कर ही नहीं

सकते, फिर भी हम रात-दिन देखते हैं कि उसमें तम या अन्धकार की छाया पड़ती है और इस पर विषाद, अशान्ति और दुःख का आक्रमण होता है। ऐसे समय स्वामी राम का स्मरण मन को नये विश्वास से विजय की ओर खींचता है। मनुष्य के भीतर कितना अपरिमित आनन्द प्रकट हो सकता है—इसके मापदण्ड स्वामी रामतीर्थ हैं। वेदान्त और भक्ति ये दोनों मिलकर भारतीय दार्शनिक उपवन की सबसे सच्ची विभूति होती हैं। वेदान्त उसका खिला हुआ पुष्प है। उस पुष्प-हास के भीतर जो सुगन्धि है वह भक्ति है। वेदान्त बिना भक्ति के अधूरा है। जिसे 'दर्शन' हुआ है उसके हृदय की वाणी बराबर उसी केन्द्र की ओर जाती है जो रस का स्रोत है। जिसने उस मधु-रस का कण भी कभी चक्खा हो वही इन अर्थों को समझ सकेगा। स्वामी रामतीर्थ के जीवन के स्वर कितने अर्थमय हैं, उसी का मन इसे यह पहचान पायेगा।

-- वासुदेवशरण

अमर ज्योति

तुमने एक दीप जलाया
और अनन्त काल-सागर की लहरों पर
उसे बहा दिया।
बहा दिया और स्वयं भी
उन्हीं लहरों में विलीन हो गये।
किन्तु वह दीप ?
पूरब से पश्चिम तक
उत्तर से दक्खिन तक
उस द्वीप का प्रकाश-घेरा

बढ़ता गया, बढ़ता गया।
और आज !
वे फुफकारती आवर्तनशील लहरें
नीचे-ऊपर
बाहर-भीतर
एक छोर से दूसरे छोर तक
उस प्रकाश में डूब - डूब कर
नहा रही हैं !
यह सच है कि
अन्धकार की आँधियाँ उठती हैं
और अपने भयावने चुंगल में
तुम्हारे अमर दीप की शिखा को
दबोच लेना चाहती हैं
मगर…
यह दीप
उसका यह प्रकाश अमर है।
उसमें अन्धेरे को भी जला देने की क्षमता है
क्योंकि वह प्रकाश तुम हो
प्रकाश भी तुम्हीं हो
काल-सागर की लहर और
गहराई भी तुम्हीं हो।

—ब्रजविलास श्रीवास्तव

परमहंस स्वामी रामतीर्थ और उनका विश्वप्रेम

भारतवर्ष में समय-समय पर महान् विभूतियाँ उत्पन्न होती रही हैं। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में इस प्राचीन संस्कृति-प्रधान देश में कई तेजस्वी महापुरुषों ने भारत-माता की गोद को सौभाग्यशाली बनाया था। सन् १८७३ में पंजाब के गुजरांवाला जिले के मुरारीवाला ग्राम में एक अद्भुत बालक ने जन्म लिया, जो आगे चल कर विश्व की एक चमत्कारक विभूति बन गया।

बालक तीर्थराम बचपन से ही प्रेममयीधारा के सात्विक सद्गुण को प्रदर्शित करने लगे। उनमें एक अजीब आकर्षण था। दूसरों के दुखों को देख कर उनका हृदय द्रवीभूत हो जाता और उनके साथी-संगी मधुमक्खियों की तरह उन्हें घेरे रहते। बाल्यकाल में उन्हें भगवान् कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द का वात्सल्यप्रेम प्राप्त हुआ था और वे उनका पावन नाम सुनते ही नाचने लगते थे। ठठाके लगा कर हँसना और सदा प्रसन्न रहना उनका स्वाभाविक गुण था, जिसके कारण इर्द-गिर्द के देखने वाले उन पर मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। सुन्दर गौरवर्ण छोटे से कद का यह बालक धीरे-धीरे बड़ा विद्याव्यसनी हो गया और अपने अध्यापकों को चकित करने लगा। उसकी विचित्र मेधा देख कर उसके गुरुजन उसे बड़ा प्रेम करते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे तीर्थराम युवावस्था को पकड़ने लगे।

उनके पड़ोस में भक्त धन्नाराम एक प्रौढ अवस्था के बालब्रह्मचारी रहते थे, जिनका इस होनहार बालक पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। उनसे तीर्थराम का बराबर अभिन्न सम्बन्ध बना रहा। विश्वप्रेम की विद्युत्मय झलक उस पत्र-व्यवहार में स्पष्ट दिखाई देती है, जो भक्त जी के साथ वर्षों तक बराबर होता रहा।

तीर्थराम जी जब कालेज में प्रविष्ट हुए, तब गणित में उनकी प्रवीणता की ख्याति लाहौर नगर के छात्र-समुदाय में धीरे-धीरे फैलने

लगी और उन्होंने अपनी एम० ए० की परीक्षा इसी कठिन विषय में अत्यन्त सफलतापूर्वक पास की थी। जब वे फोरमेन क्रिश्चियन कालेज में प्रोफेसर बने तो उनका वेतन निर्धन विद्यार्थियों के सहायतार्थ खर्च होने लगा। मुश्किल से अपने निर्वाह के लिए थोड़े से रुपये रख लेते और शेष सब गरीब विद्यार्थियों में बाँट देते। उनके पिता साधारण सद्गृहस्थ थे। उन्होंने इनका विवाह छोटी उम्र में ही कर दिया था, परन्तु हमारे चरित्रनायक विश्वप्रेम के सात्विक गुण से ऐसे ओतप्रोत थे कि अपनी सारी आमदनी बिना किसी भेदभाव के असहाय लोगों को दे देते थे। पिताजी बार-बार इसकी शिकायत करते और इनके वेतन का बहुत बड़ा भाग घर के खर्च के लिए माँगते; किन्तु प्रोफेसर तीर्थराम जी अपने उस वेतन पर सबका बराबर अधिकार समझते थे। ऐसी उच्च भावना का प्रवेश उनके मन में कैसे हुआ?

लाखों वर्षों से मनुष्य पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग की योनियों में अपनी सन्तान के लिए जीना—इसी का अभ्यास करता आ रहा है। सब पशु-पक्षी सन्तान उत्पन्न करते हैं और उन्हीं के लिए अपना सारा जीवन खर्च कर देते हैं। परन्तु जब मानवदेह मिलता है तब यदि मनुष्य पशुओं की तरह शरीर को ही सब कुछ समझता रहता है तो अपने पिछले संस्कारों में आबद्ध होने के कारण इसका व्यवहार पशुओं जैसा ही बना रहता है—निपट स्वार्थपूर्ण। जब तक उसमें आत्मतत्व की चेतना जागृत नहीं होती तब तक विश्वप्रेम की ओर निहारने की बुद्धि उसमें नहीं आ सकती। इसलिये मानव देह धारण करने पर करोड़ों वर्षों की अनवरत बहनेवाली वह जीवन-धारा दो भागों में विभक्त हो जाती है। मानव-देह से पहले पशु-पक्षियों की योनियों में वह जीव पिञ्जड़े में कैद रहता है—वह अपनी इच्छा से कुछ नहीं कर सकता। उसे प्रभु के दिये हुए सीमित ज्ञान के अन्दर ही जीवन-निर्वाह करना पड़ता है, परन्तु मानवदेह मिलने पर अवस्था बिल्कुल बदल जाती है। स्वाधीनता-सुख भोगने के लिए

जगन्नियन्ता उसे स्वतन्त्र कर देता है और उसकी पहली शर्त यही है कि मानव को अपने आत्मतत्व का बोध होने लगे। जब वह यह समझने लगता है कि वह शरीर नहीं, बल्कि शरीर का स्वामी, उसे अपने आदेशानुसार चलानेवाला, आत्मा है--यह विवेक आ जाने पर उसमें लाखों वर्षों की अनुभूति की भेद-बुद्धि दूर होनी आरंभ होती है और उसके ज्ञाननेत्र खुलने लगते हैं। भेद-बुद्धि ही सब स्वार्थों की जड़ है और इसी के कारण प्राकृतिक जगत् में भोजन की मारा-मारी, निर्बल, सबल का झगड़ा और पशु-शक्ति का बोलबाला है। परन्तु जो मानव देहधारी अपनी पुरानी लकीर को छोड़कर नवीन मार्ग बनाते हैं वे भेद-बुद्धि के कण्टकाकीर्ण और विषमतापूर्ण पथ का त्याग कर अध्यात्मवाद के प्रशस्त मार्ग की ओर चल पड़ते हैं। परमहंस स्वामी रामतीर्थ जी अपने बाल्यकाल से ही इसी पवित्र पथ के अनुगामी थे। सांसारिक मोह में फंसे हुए उनके माता-पिता ने अपनी छोटी बुद्धि के अनुसार उनका लालन-पालन किया, उन्हें पढ़ाया-लिखाया, उन्हें सांसारिक बन्धनों से जकड़ दिया, किन्तु यह सब होने पर भी इस अध्यात्मवादी सन्त ने अवसर मिलते ही अपने बन्धन काट दिये, प्रोफेसरी छोड़ दी, सन्तान होने पर भी गृहस्थी से मुँह मोड़ लिया और अपनी भरी तरुणाई में विश्वप्रेम के प्रचण्ड प्रचारक बन गये। उन्होंने संसार के सामने यह घोषणा की—"मनुष्य पशु नहीं है; वह शरीर का स्वामी, सब प्रकार की भेदबुद्धि को दूर करनेवाला शरीर का स्वामी चैतन्य आत्मा है, जो सारे संसार में भिन्न-भिन्न शरीरों द्वारा अपनी ज्योति का प्रदर्शन करता है। अपने बनाये हुए इन स्वार्थपूर्ण बन्धनों को काट कर ऐ मनुष्यो तुम्हें संसार की विषमता को दूर करना चाहिए और विभिन्नता में एकता स्थापित कर संसार को विश्वप्रेम का अमृतपान कराना चाहिए।

इसी दिव्य संदेश को लेकर लाहौर के ईसाई कालेज में पढ़ानेवाले प्रोफेसर तीर्थराम परमहंस स्वामी रामतीर्थ बन गये और

अध्यात्मवाद का संदेश जगत् को सुनाने के लिए अपने घर से निकले। यह युवा सन्यासी जहाँ जाता लोग उसे घेर कर खड़े हो जाते और उनके मुँह से अनायास यही निकलता—"धन्य है वह माता जिसने ऐसे पुत्ररत्न को उत्पन्न किया है।" उनके पुनीत संदेश की गूँज पंचनद की भूमि से बाहर पहुँची और देश के भिन्न-भिन्न नगरों में हजारों मुमुक्षु श्रोताओं ने उनके प्रेम से सने हुए व्याख्यानों को सुना। उनका था एक ही राग और एक ही गीत। विश्वप्रेम का अनहद राग—उसी के नशे ने उन्हें अपने देश के बाहर जाने के लिए प्रोत्साहन दिया और वे जापान पहुँच गये, जहाँ उन्होंने उनकी भाषा न समझनेवाले हजारों नर-नारियों को अपना ब्रह्मज्ञान का उपदेश सुनाया—श्रोताओं की हृदय-तन्त्रियाँ बजने लगीं और वे इस भारतीय ब्रह्मज्ञानी की ओर चुम्बक पत्थर की तरह दौड़ पड़े। जापान के सभी मुख्य अखबारों में इनके सुन्दर चित्र छपे और इनके सत्य-ज्ञान से भरे संदेश की दुन्दुभि उस वीर भूमि में बज उठी।

जापान में अपना संदेश सुनाने के बाद स्वामी रामतीर्थजी नई दुनिया की ओर चल पड़े। जो स्टीमर उन्हें अमेरिका ले जा रहा था उस पर कई अमरीकन यात्री थे। उनमें से एक ने स्वामी राम से पूछा - "क्या अमेरिका में आपका कोई परिचित व्यक्ति है जो वहाँ आपकी मदद करेगा ?"

हमारे सन्त ने खिलखिलाते चेहरे से अपना हाथ उसके कन्धे पर रख कर उत्तर दिया - 'आप ही तो मेरे परिचित मित्र हैं।' अमरीकन यात्री उनके इस प्रेमभरे उत्तर से ऐसा प्रभावित हुआ कि वह उनका सारा खर्च उठाने के लिए तैयार हो गया। स्वामी रामतीर्थजी ने अमेरिका में भी बड़ा यश प्राप्त किया और जहाँ वे जाते, बड़ी भीड़ उनका व्याख्यान सुनने के लिए एकत्र होती। कई धनवान् स्त्री-पुरुष उन्हें अमेरिका में रहने और अपना अध्यात्मवादी मिशन चलाने के लिए धन से सहायता करने के लिए तैयार थे, किन्तु उन्होंने अपने आपको किसी संस्था के रूप में बाँधना स्वीकार नहीं किया। वे भारत लौट आये और यहाँ की

तपोभूमि में अलखनन्दा के किनारे विचरने लगे। श्रीगंगाजी से उन्हें बड़ा स्नेह था और उसका तट उन्हें बार-बार अपनी ओर खींचता था।

ये दिन भारतवर्ष में राजनीतिक उथल-पुथल के थे। ब्रिटिश सरकार संयुक्त राज्य अमेरिका से लौटे हुए यात्रियों से बड़ा भय खाती थी और उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखती थी। स्वामी रामतीर्थजी के पीछे भी खुफिया पुलिस रहने लगी। जहाँ वे जाते, पुलिस उनका पीछा करती और उन्हें ठहराने वालों को बड़ा हैरान करती। स्वामी रामतीर्थजी का कोमल हृदय सरकार के इस कुटिल व्यवहार से व्यथित हो जाता। खिला हुआ यह फूल इन राजनीतिक प्रहारों को सहने के योग्य नहीं था। अपने देश की राजनीतिक स्वतंत्रता वे अवश्य चाहते थे, परन्तु किसी प्रकार का द्वेष उनके हृदय में विदेशी शासकों के विरुद्ध न था। इसी कारण अँगरेज अधिकारियों का ऐसा अन्यायपूर्ण व्यवहार उन्हें दुखित करता था। उन्होंने उत्तर काशी की ओर श्रीभागीरथी के किनारे जीवन-यापन करने का निश्चय कर लिया। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में वे हिमालय के इस भू-भाग में ही विचरते रहे। धीरे-धीरे वैराग्य ने उन पर अपना प्रभुत्व जमा लिया और संसार की निस्सारता उन्हें स्पष्ट बोध होने लगी।

विश्व-प्रेम की यह मूर्ति अपनी तरुणाई की अवस्था में ही प्राकृतिक बन्धनों को जड़-मूल से काट कर अलग खड़ी हो गई और विश्व प्रेम के स्रोत उस परम पिता परमात्मा से मिलने के लिए बेचैन हो उठी। अपनी ऐसी ही मानसिक अवस्था में वे एक दिन प्रातःकाल श्रीगङ्गा जी में स्नान करने गये और उसी में उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी।

हम भारत के इस परमहंस को श्रद्धा से नमस्कार करते हैं और प्रभु से यह याचना करते हैं कि परमहंस स्वामी रामतीर्थजी के उस ब्रह्मज्ञान की भिक्षा उनके प्रेमी जिज्ञासुओं को भी मिले और उनके विश्वप्रेम की ज्योति से मानव-समाज प्रकाशित हो उठे।

—स्वामी सत्यदेव परिब्राजक

अभिनन्दन

जय - जय वेदान्त तरणि रामतीर्थ हे !

ज्ञान तरणि ध्यान तरणि ।
गौरव अभिमान तरणि ।
जय - जय देदीप्यमान पुण्य तीर्थ हे !

तेज पुञ्ज अग्नि पुञ्ज जयति जयति पुण्य पुञ्ज ।
गुंजित अति कुंज-कुंज, कोटि कंठ पुञ्ज-पुञ्ज ।
ज्ञान पुञ्ज हे, ज्ञान पुञ्ज हे !

पावन वैराग्य ज्ञान, प्रेम शान्ति मूर्त्तिमान ।
जयति दिव्य ब्रह्म ज्ञान, जय-जय मानव महान ।
ज्ञानवान हे, ज्ञानवान हे !

धन्य रामकृष्ण धाम, प्रणवनाद धन्य धाम ।
धन्य धवल हेम रश्मि, मूर्त्तिमान राम नाम ।
रामतीर्थ हे, रामतीर्थ हे !

जयति निसृत अश्रु धार, श्वास-श्वास ओंकार ।
धन्य पुण्य भूमि द्वार, रोम-रोम से पुकार ।
ज्ञान सूर्य हे, ज्ञान सूर्य हे !

पूरित युग अन्धकार, विकल विश्व अनाचार ।
दो प्रकाश, दो प्रकाश, कोटि-कोटि की पुकार ।
ज्ञान तरणि हे, ज्ञान तरणि हे !
जय - जय वेदान्त तरणि रामतीर्थ हे !

-- एक राम-भक्त

कौन कहता है—

स्वामी रामतीर्थ मर गये ?

प्यारे रामभक्तो ! ऐसा कभी न कहना और न कभी ऐसा सोचना ही कि स्वामी राम मर गये अथवा वे अब हमारे बीच में नहीं हैं। क्यों ? क्योंकि स्वामी राम क्या—कोई भी जीवन्मुक्त महात्मा कभी मरता नहीं। प्रकृति का ऐसा नियम और अटल नियम है सही कि जो जन्म लेता है, वह मरता है और जो मरता है, वह जन्म लेता है। पर जीवन्मुक्त महात्मा इसके अपवाद हैं। क्यों ? क्योंकि जो जीते-जी मर जाये, उसे मृत्यु कैसे ग्रस सकती है। संसार में एक ही ईश्वर अनादि, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सब का आदि कारण माना जाता है। पर वह हमारे सामने प्रत्यक्ष नहीं होता—यहाँ तक कि उसकी इसी अप्रत्यक्षता के कारण कोई-कोई उसके अस्तित्व को ही अस्वीकार करने लगते हैं। पर जीवन्मुक्त महात्माओं में ईश्वरापेक्षा यह एक विशेषता होती है कि वे ब्रह्मरूप होते हुए भी सदा हमारे सामने प्रत्यक्ष रहते हैं। ज्ञात और अज्ञात जितने भी जीवन्मुक्त महात्मा हुए हैं, वे सब एक हैं, साक्षात् ब्रह्मरूप हैं। सच तो यह है कि यदि संसार में ऐसे महात्मा न हुए होते, तो ईश्वर का अस्तित्व हमारे लिए कभी असंदिग्ध न होता, उसे हम कल्पना से अधिक मान्यता न दे सकते।

कहते हैं, यह हमारा दुर्भाग्य है कि स्वामी राम ने ३३ वर्ष की अल्पायु में ही अपना भौतिक शरीर छोड़ दिया। यदि वे हमारे बीच कुछ दिन और रहते तो हमारा बड़ा उपकार होता। किन्तु इस भावना में कुछ विशेष तथ्य नहीं है। वे तो अपनी वाणी में सदा हमारे सामने साकार रहते हैं। उनकी वाणी अमर है और सदा अमर रहेगी। वे तीस क्या, तीन सौ वर्ष भी जीवित रहते, तो भी जो जीवन-संदेश

हमारे लिए छोड़ गये हैं, उसमें कभी कोई अन्तर नहीं आ सकता। शब्दों का हेर-फेर भले ही होता किन्तु बात तो सदा वही रहती। उन्होंने जीवन के अन्तिम लक्ष्य का साक्षात्कार किया था, उसमें तो कभी परिवर्तन-परिवर्द्धन हो ही नहीं सकता। जिस ब्रह्माकार-वृत्ति में वे डूब गये थे—वहाँ द्वैत का नामोनिशान नहीं रहता। अपने शब्दों में उसी ब्रह्मदर्शन की झलक उन्होंने हमें दिखाई है—किन्तु हम जैसे अल्पज्ञों को यथार्थ रूप में उसे हृदयंगम करना बड़ा कठिन है।

हमें सर्वप्रथम देखना यह है कि किस प्रकार और किन परिस्थितियों में होकर उन्होंने आत्मसाक्षात्कार किया है। वे कोई सस्ते सुधारक नहीं थे। वे कहते हैं—सुधारक चाहिए, ऐसे सुधारक चाहिए, जो दूसरों के सुधार के लिए व्यग्र न हों, वरन् जो प्राणपण से स्वयं अपने सुधार के लिए चेष्टा करें। और इसी मूलमंत्र के आधार पर उन्होंने अपने जीवन को ढाला था। बाल्यकाल से ही हमें उनमें आत्मसुधार की ऐसी उत्कट प्रवृत्ति दिखाथी देती है। और अपनी कमजोरियों को एक-एक करके दूर करने के लिए उन्होंने अपने गुरु के प्रति आत्मसमर्पण किया था। एक पतिव्रता जिस तत्परता से अपने पति की सेवा और आज्ञा-पालन के लिए तत्पर रहती है, उसी एकाग्रता से वे अपने गुरु की आज्ञाओं का पालन करते थे। इस बाल्यकालीन सच्ची गुरु-निष्ठा से उन्हें अपूर्व लाभ हुआ। उनका हृदय निर्मल हो गया और उसमें कृष्ण-भक्ति लहलहाने लगी। धीरे-धीरे जीवन-लक्ष्य की अन्तिम साधना के लिए वे स्वयं अपने गुरु बन गये। उन्होंने कहा भी है--प्रमाण चाहे जितना पवित्र हो, जब तक स्वयं उसे अनुभव से जाँच न लो, तब तक कदापि उसे स्वीकार न करो। उन्होंने यहाँ तक कहा है—राम की बात मत मानो, उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालो, उसे पैरों तले रौंद दो। हाँ, वह जो ज्ञान तुम्हारे सामने रखता है, स्वयं उसकी जाँच-पड़ताल करो। अपने इसी आत्मानुभव के बल पर उन्होंने लिखा है—पाठक, बहुत बातों से क्या लाभ! एक ही लिखते हैं, आचरण में लाकर

परताल लो, ठीक न हो तो लेखक का हाथ काट देना और जिह्वा निकाल डालना। जरा कान खोलकर सुन लो और दिल की आँख खोलकर पढ़ लो। प्यारे! कूप में कूद कर नीचे न गिरना तो कदाचित् हो भी सके, परन्तु जगत् के किसी पदार्थ की चाह में पड़कर क्लेश से बच जाना कभी नहीं हो सकता। सूर्य उदय हो और प्रकाश न फैले, यह तो कदाचित् हो भी जाय, पर चित्त में पवित्र भाव और ब्रह्मानन्द होने पर भी शक्ति, श्री आदि मानों हमारी पानी भरने वाली दासी न हो जायँ, कभी नहीं हो सकता, कभी नहीं।

इस प्रकार कृष्ण-भक्ति से सुने हुए और कृष्ण-विरह से व्याकुल हृदय में जब यह अनुभूति हुई कि सांसारिक प्रेम और कथित सेवा-भाव में भी विशुद्ध आनन्द नहीं है, उसके अन्तर में भी सूक्ष्मतम स्वार्थ की गन्ध रहती है, तब वे आत्मज्ञान की ओर झुके—यह तो वे पहले ही निश्चय कर चुके थे कि सांसारिक वस्तुओं में चिरन्तन सुख नहीं है। अतः आत्म-ज्ञान के साक्षात्कार के लिए उन्हें लौकिक दृष्टि में अपने सब प्रकार से सम्पन्न घरबार को छोड़ने में रत्तीभर की देर नहीं लगी और अपनी उत्कट जिज्ञासा और एक निष्ठा के फलस्वरूप वे जिस ब्रह्मभाव, आत्म-स्वरूप में निमग्न हो गये, वह हम जैसे साधारण प्राणियों की कल्पना के बाहर है।

स्वामी राम ने कहा भी है—यदि कोई एक शब्द में मुझसे जीवन-दर्शन के विषय में पूछे, तो मैं कहूँगा—अहम्भाव, तुच्छ अहम् का नाश और परमात्मभाव की अनुभूति। उनकी दृष्टि में ज्यों-ज्यों हम तुच्छ अहम से ऊपर उठते हैं, त्यों-त्यों अनायास कल्याणपथ पर अग्रसर होते रहते हैं। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि संसार में जहाँ भी शक्ति, सौंदर्य और सफलता दिखायीं देती है, वह अवश्यमेव ज्ञाततः और अज्ञाततः इसी तुच्छ अहम् भावना के विलय पर निर्भर है। आप चाहे लेखक हों, कवि हों, चित्रकार हों, गणितज्ञ हों, वैज्ञानिक हों, या कारीगर—जब आप अपने काम में ऐसे तल्लीन हो जाते हैं कि आपको अपने तुच्छ

अहम् का विस्मरण हो जाता है, आप यह नहीं सोच पाते कि मैं अमुक कार्य कर रहा हूँ, तभी कार्य में सौंदर्य, साफल्य और शक्ति प्रकट होती है। यहीं उनके व्यावहारिक वेदान्त की कुञ्जी है। वे कहते हैं जब तक हम अपने आपको एक छोटे से शरीर, एक छोटे मन के साथ तदात्म किये हुए हैं, तब तक हमें कदापि उस परम सत्य, सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म के दर्शन नहीं हो सकते। इस क्षुद्र अहम् की पूर्णत: बलि चढ़ाते ही हम उस परमात्मा के साथ, सर्व के साथ एक हो जाते हैं। आप चाहे कर्म-मार्ग के पथिक हों, चाहे भक्ति-मार्ग और ज्ञानमार्ग के, आपकी उन्नति की एक ही कसौटी है, आप अपने तुच्छ अहम्, अहंकार से कितने ऊपर उठ गये हैं।

अपने जीवन का रहस्य बताते हुए एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए, हमें सन्यासी भाव ग्रहण करना होगा। दूसरे शब्दों में स्वार्थ का पूर्ण त्याग करके अपनी क्षुद्र आत्मा को भारतवर्ष की महान् आत्मा का अनुगत बनाना होगा। सच्चिदानन्द के के अनुभव के लिए हमें ब्राह्मण-भाव ग्रहण करके अपने मस्तिष्क को राष्ट्रोन्नति के विचारों में लगाना होगा, क्षत्रिय-भाव ग्रहण करके प्रति क्षण देश के लिए जीवन उत्सर्ग करना होगा, वैश्यभाव ग्रहण करके अपनी सम्पत्ति देश के प्रति समर्पित करनी होगी और सर्वोपरि अपने विचार-प्रधान धर्म को व्यावहारिक स्थूल रूप देना होगा, उसे अपने हाथ-पैरों द्वारा व्यक्त करना होगा, जो किसी समय केवल शूद्रों का अधिकार था। आज इस सन्यास-भाव और अस्पृश्य करों का पाणिग्रहण करना होगा, इसके सिवा हमारे कल्याण का और कोई मार्ग नहीं है।

आत्मज्ञान में निमग्न होकर वे अपने इसी भाव में लिखते हैं—भारतवर्ष मेरा शरीर है। कोमोरिन मेरे पैर और हिमालय मेरा सिर है। मेरी जटाओं से गङ्गा बहती हैं। विंध्याचल मेरी कमर-पेटी है। मैं सम्पूर्ण—समूचा भारतवर्ष हूँ। मेरा प्रेम सार्वभौमिक है। मेरी अन्तरात्मा

विश्वात्मा है। जब मैं चलता हूँ तो सारा भारतवर्ष चलता है, बोलता हूँ, तो सारा भारतवर्ष बोलता है। मैं भारतवर्ष हूँ, मैं शंकर हूँ, मैं शिव हूँ।

और भारतवर्ष ही क्यों—

मैं खेलता हूँ होली, दुनिया है गेंद गोली।
ख्वाह इस तरफ़ को फेकूँ, ख्वाह उस तरफ़ चला दूँ।
पीता हूँ जाम हरदम, नाचूँ मुदाम धम धम।
दिन रात है तरन्नम, हूँ शाहे राम बेग़म॥

बस, यही सर्वात्म भाव उनके दर्शन की सर्वोत्कृष्ट अनुभूति है और यही है, उनका व्यावहारिक वेदान्त। भला, ऐसे जीवन्मुक्त के विलय की कल्पना कैसे की जा सकती है!

—दीनदयालु

स्वामी रामतीर्थ

राम नाम धारी राम राम ध्वनिकारी नित्य
राम-तत्वचारी राम-रूप सुखधामी थे।
वेदऽरु वेदान्त-पन्थ-भ्रान्त लोक के सहाय
दिव्य कान्तकाय पर-हित-अनुगामी थे॥
हीतल-मधुरिमा से शीतल स्वरूप वाले
भारत के रत्न जगतीतल में नामी थे।
पूर्णमनोकाम तीर्थ ज्ञान के विराम तीर्थ
अति अभिराम तीर्थ रामतीर्थ स्वामी थे॥

—राजेश दयालु "राजेश"

जगत् का यथार्थ स्वरूप

मरुभूमि में मृगजलवत् सच्चिदानन्दब्रह्म में कारण-सूक्ष्म-स्थूल प्रपंच का जो भ्रम हो रहा है इसी का नाम जगत् है। जैसे मृगजल का यथार्थ स्वरूप मरुभूमि ही है उसी प्रकार दिव्य दृष्टि से सम्पूर्ण प्रपंच का यथार्थ स्वरूप सर्वाधिष्ठान ब्रह्म ही है। यथाः—

मरु भूमौ जलं सर्वं मरु भूमात्रमेवतत्।
जगत्त्रयमिदं सर्वं चिन्मात्रं स्वविचारतः॥

(महोपनिषद्)

जैसे जल में शीतलता, द्रवता, मधुरता वास्तविक है तथा तरंग-फेन-बुदबुद शब्दमात्र अर्थशून्य हैं अर्थात् जल से भिन्न उनका अत्यन्ताभाव है। उसी प्रकार सर्वव्यापक ब्रह्म का अस्ति-भाति-प्रिय (सत्, चित्-आनन्द) वास्तविक स्वरूप है तथा नामरूपात्मक प्रपंच ब्रह्म का कल्पित स्वरूप है। अर्थात् ब्रह्म का सप्रपंचत्व धर्म कल्पित है और निष्प्रपंचत्व धर्म पारमार्थिक है। जैसे तरंग-बुदबुदों में शीतलता, मधुरता, द्रवता जल का स्वरूप है तथा नामरूप तरंग-बुदबुदों का स्वरूप है, उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में अस्ति-भाति-प्रिय-ब्रह्म का स्वरूप परिपूर्ण है और नाम-रूप प्रपंच का स्वरूप है जैसा कि सरस्वती उपनिषद् का मंत्र है:—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंश पञ्चकम्।
आद्य त्रयं ब्रह्म रूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड तरंग, फेन, बुदबुदों की भाँति सच्चिदानन्द ब्रह्म सागर में उत्पन्न, स्थित तथा लीन हुआ करते हैं।

यथा फेन तरंगादि समुद्रादुत्थितं पुनः।
समुद्रे लीयते तद्वज्जगन्मय्यनु लीयते॥

(जाबाल दर्शन उ०)

जैसे तरंगों का उपादान जल के अतिरिक्त अन्य पदार्थ नहीं हो सकता, उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपंच का उपादान ब्रह्म के अतिरिक्त और

कोई नहीं है क्योंकि सृष्टि के पहले एकमात्र ब्रह्म ही था, उसके सिवा और कुछ भी न था। यथा:—

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किञ्चन मिषत्॥
(ऐतरेय उ०)

जब जगत् का उपादान ब्रह्म सिद्ध हो गया तो सर्व जगत् का स्वरूप भी ब्रह्म ही है। यथा:--

उपादानं प्रपंचस्य ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते।
तस्मात्सर्वं प्रपंचोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत्॥
(अपरोक्षानुभूति)

जैसे जल से ही तरंगें उत्पन्न होती हैं और जल ही तरंग रूप से उत्पन्न भी होता है तथा जल में ही तरंगें स्थित होकर लीन हो जाती हैं और जल ही तरंग रूप से स्थित और लीन भी होता है उसी प्रकार अभिन्न निमित्तोपादान कारण होने से ब्रह्म ही सृष्टि को उत्पन्न, पालन तथा अपने में लीन करता है और सृष्टि रूप से स्वयं ही उत्पन्न, पालित तथा लीन होता है। यथा:--

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥
(भागवत)

तरंगें उत्पन्न होने पर जल की आकृति में परिवर्तन हो जाता है परन्तु स्वप्नवत् सृष्टि का ब्रह्म में आभास होने पर न तो ब्रह्म की आकृति बदलती है और न ब्रह्म में कोई क्रिया ही होती है। जैसे स्वप्नद्रष्टा में बिना कोई हलचल पैदा किये हुए ही स्वप्न उत्पन्न हो-होकर लीन हुआ करता है अथवा ठोस दर्पण में जैसे प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है परन्तु दर्पण को तोड़ नहीं सकता चाहे सिंह का ही प्रतिबिम्ब क्यों न हो। उसी प्रकार परम प्रकाशक ब्रह्म में, अखिल जड़चेतनात्मक जगत् दर्पण में प्रतिबिम्ब वत् अथवा स्वप्नवत् प्रतीत हो रहा है परन्तु ब्रह्म ज्यों का त्यों निष्क्रिय,

निर्विकार, असंग, अखण्ड, निर्द्वैत परमानन्दघन रूप से एकरस रहता है। जैसे स्वप्न निमग्नबुद्धि जीव भ्रममात्र स्वप्न को स्वप्न-काल में निद्रा पर्यन्त सत्य स्थिर ही अनुभव करता है, उसी प्रकार भ्रममात्र स्वप्न-वत् जाग्रत को भी अज्ञान पर्यन्त सत्य स्थिर अनुभव करता है। वास्तव में जाग्रत भी स्वप्न की भाँति भावना के पूर्व अथवा उत्तर काल में कुछ नहीं है, केवल संकल्प उदय होने पर ही आकाश में दूसरे चन्द्रमा की भाँति दृश्य का भ्रम होने लगता है। जैसे स्वप्न विना सामग्री के ही स्वप्न-द्रष्टा में प्रतीत हुआ करता है, उसी प्रकार जाग्रत भी विना किसी के सहयोग के ही अद्वितीय ब्रह्म में स्वप्नवत् प्रतीत होता है। यथा:—

"जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाय न दूजा।"

(रामचरित मानस)

अद्वितीय ब्रह्म तत्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत्।
ईश्वर जीवादि रूपेण चेतना चेतनात्मकम्॥

(पंचदशी)

जैसे स्वप्न में चींटी से ब्रह्मापर्यन्त सर्व का स्वरूप स्वप्न-द्रष्टा ही है, उसी प्रकार जाग्रत में भी चींटी से ब्रह्मा पर्यन्त जड़-जंगम-सम्पूर्ण जगत् सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप ही है। परन्तु

"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।"

(गीता)

अर्थात् अहं त्वं इदं सर्व ब्रह्म ही है। ऐसा ज्ञान महात्माओं में भी किसी विरले को ही होता है। जगत् को स्वप्नवत् जानकर प्रारब्धवशात् सारे कार्य करते हुए भी ब्रह्मवेत्ता को अपने वास्तविक स्वरूप ब्रह्म का उसी प्रकार विवेक एकरस रहता है, जैसे रामलीला में खेल करनेवाले राजा-रानी के अनेक वेष धारण करने पर भी तथा यथावत् वेष के

अनुसार पार्ट अदा करते हुए भी अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं भूलते। वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होने पर भी वेष के अनुसार ही अभिनय करना चाहिए। यदि अभिनेता यथावत् पार्ट अदा नहीं करेगा तो रामलीला बिगड़ जायेगी। झूठा होने पर भी नाटक बिगाड़नेवाले से कोई प्रसन्न नहीं हो सकता, फिर ईश्वर प्रसन्न कैसे होगा! अतः ज्ञानी-अज्ञानी सबको वेष के अनुसार ही यथावत् निष्काम भाव से अपना-अपना पार्ट अदा करना चाहिये। वास्तव में जगत् रामलीला है, जिसमें नाना प्रकार के देहरूपी कपड़े धारण करके जीव नाटक करने आते हैं। परन्तुः—

मायावश स्वरूप बिसरायो।　　तेहि भ्रम ते दारुण दुख पायो॥

निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख तैं परिहरेउ।
निज राज काज विहाय नृप इव स्वप्न काराग्रह परेउ॥

सोवत सपने सहै संसृत संताप रे।
बूड्यो मृगवारि खायो जेवरी के साँप रे॥
निज भ्रम सम्भव रविकर सागर अति भय उपजावै।
अवगाहत बोहित नौका चढ़ि कबहूँ पार न पावै॥
सपने नृप कहँ घटै विप्रवध, विकल फिरै अघ लागे।
वाजि मेध शत कोटि करै नहिं शुद्ध होय बिनु जागे॥
स्रग महँ सर्प विपुल भयदायक प्रगट होय अविचारे।
बहु आयुध धरि बल अनेक करि हारहि मरै न मारे॥
'तुलसिदास' सब विधि प्रपंच जग जदपि झूठ श्रुति गावै।
रघुपति भगति सन्त संगति बिनु को भव त्रास नसावै॥
(विनय पत्रिका)

जगत् का वास्तविक स्वरूप ज्ञात होने पर फिर कभी भय नहीं होता। यथाः—

मैं तोहि अब जान्यो संसार।
बाँधि न सकै मोंहि हरि के बल प्रगट कपट आगार॥
ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहूँ न निकसत सार।
महामोह मृग जल सरिता महँ बोरयो बारहिंवार॥
तासों करो चातुरी जो नहिं जानत मरम तुम्हार।
सो परि डरै मरै रजु अहि ते बूझै नहिं ब्यवहार॥
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कोउ मानै।
'तुलसिदास' परिहरहि तीन भ्रम सो आपन पहिचानै॥

(विनय पत्रिका)

जैसे दर्पण में प्रतिविम्ब को सत्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि सदा नहीं रहता और असत्य भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतीत हो रहा है तथा सत्यासत्य उभयात्मक भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि सत् और असत् में परस्पर प्रकाश-अन्धकारवत् विरोध है, उसी प्रकार जगत न सत् है, न असत् है और न उभयात्मक है।

ठोस दर्पणवत् सर्व जगत् का वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही अपने आप में स्थित है। वही अपना तथा सर्व का यथार्थ स्वरूप जानकर कृतकृत्यता प्राप्त करना चाहिए।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन। न तदस्ति विना यत्स्यान्मयाभूतं चराचरम्॥

(गीता)

यत्रैष जगदाभाषो दर्पणान्तः पुरं यथा।
तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भवानघ॥

(अध्यात्म उ०)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

—वेदान्तीजी, काशी

स्वामी रामतीर्थ आश्रम, सारनाथ

एक बार स्वामी राम ने प्रस्ताव किया था कि गङ्गा के तट पर हिमालय की तराई में एक 'वेदान्त उपनिवेश' ही बसना चाहिए, जहाँ जिज्ञासु मिल-जुलकर व्यावहारिक वेदान्त के सिद्धान्तों के अनुसार अपना जीवन ढाल सकें। निस्संदेह, एक स्थान पर मिल-जुलकर सात्विक ढंग से जीवन-यापन करते हुए जीवन-लक्ष्य की सिद्धि में जिज्ञासुओं को परस्पर बड़ी सहायता मिल सकती है।

रामतीर्थ प्रतिष्ठान विगत ३५ वर्षों से राम के अद्वितीय ज्ञान-साहित्य का प्रचार करता रहा है। किन्तु उसके सदस्यों के हृदय में यह बात सदा से खटकती रहती थी कि उनके उपर्युक्त प्रस्ताव के विषय में अभी तक कुछ भी नहीं किया जा सका।

हर्ष का विषय है कि अब प्रतिष्ठान काशी के समीप भगवान् बुद्ध की तपोभूमि सारनाथ में अपने ढंग से रामतीर्थ आश्रम की स्थापना करके राम के इस आदेश के पालन में सफल हुआ है। स्थान बहुत ही सुरम्य, स्वास्थ्यकर एवं आध्यात्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत है। कुल दस एकड़ की भूमि से ७ एकड़ में फलदार वृक्षों का मनोहर बाग है। राम पुस्तकालय में नूतन एवं प्राचीन धर्म-ग्रन्थों का सुन्दर संग्रह है, साथ ही एक धर्मार्थ होम्यो औषधालय भी चलने लगा है और संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन हेतु एक संस्कृत पाठशाला की भी व्यवस्था हो रही है। इस प्रकार जिज्ञासुओं को सुविधापूर्वक वहाँ कुछ काल निवास करने के लिए उपयुक्त साधन जुटाये जा रहे हैं।

कहना न होगा कि यह सारा कार्य मुख्यतः प्रतिष्ठान के वर्तमान मंत्री श्री रामेश्वरसहायसिंह के अथक परिश्रम के फलस्वरूप सम्पन्न हो सका है। उन्होंने निष्काम भाव से राम की सेवा की है, फिर भी हम उन्हें जितना साधुवाद दें उतना ही थोड़ा है। अब आवश्यकता इस बात की है कि स्वामी राम के भक्तगण आगे आवें और उनके सिद्धान्तों का मनन करते हुए आश्रम की योजनाओं को सफल बनावें। एवमस्तु !

— दीनदयालु

आत्मानुभव

अपने मज़े के खातिर गुल छोड़ ही दिये जब,
रूये-ज़मीं के गुल्शन मेरे ही बन गये सब।

जितने ज़ुबाँ के रस थे कुल तर्क कर दिये जब,
बस ज़ायके जहाँ के मेरे ही बन गये सब।

खुद के लिए जो मुझसे दीदों की दीद छूटी,
खुद हुस्न के तमाशे मेरे ही बन गये सब।

अपने लिए ज़ो छोड़ी ख्वाहिश हवाखुरी की।
बादे-सबा के झौंके मेरे ही बन गये सब।

निज की गरज से छोड़ा सुनने की आरज़ू को,
अब राग और बाजे मेरे ही बन गये सब।

जब बेहतरी के अपनी फ़िक्रो-खयाल छूटे,
फ़िक्रो - ख्याले - रंगी मेरे ही बन गये सब।

आहा ! अजब तमाशा, मेरा नहीं है कुछ भी,
दावा नहीं ज़रा भी इस जिस्मो-इस्म पर ही।

यह दस्तो-पा हैं सबके, आँखें यह हैं तो सबकी,
दुनियाँ के जिस्म लेकिन, मेरे ही बन गये सब।

प्रकाशक—स्वामी रामतीर्थ प्रतिष्ठान, सारनाथ, काशी।
मुद्रक—रामेश्वरदयाल दीक्षित, हिन्दुस्तानी आर्ट काटेज, लखनऊ।